जैन दर्शन में अहिंसा-एक विश्लेषण

श्री सुनील कुमार जैन

जैन आचार का समूचा साहित्य अहिंसा की साधना से ओत-प्रोत है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन जैन-परम्परा में मिलता है उतना शायद ही किसी अन्य परम्परा में हो। अहिंसा जैन आचार की मूलभीति है। इसका प्रत्येक सिद्धान्त अहिंसा की भावना से अनुप्राणित है। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावों का अनुवर्त्तन, समता व अपरिग्रह तथा संयम और सच्चरित्र का अनुसाधन अहिंसा के प्रधान स्तम्भ हैं।

अहिंसा जीवन का शोधक तत्त्व है। अहिंसा का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है। वह आत्मा का ही निर्विकार व्यापार है। आत्मा ही उसका साधकतम कारण है। आत्मा ही उसकी सुरम्य जन्म-स्थली है और अहिंसा का संपूर्ण क्रिया-कलाप आत्मा के लिए ही होता है।

"अहिंसा परमो धर्मः" अत्यन्त प्राचीन एवं सर्वमान्य सिद्धान्त है। इसका सर्वप्रथम रूप वैदिक परम्परा में देखने को मिलता है जिसका आरम्भ उपनिषदों से होता है। कोई भी धर्मग्रन्थ हिंसा अथवा मांसाहार की खुली छूट नहीं देता। प्राचीन ग्रन्थों ने यत्र-तत्र कुछ विशेष परिस्थितियों में ही इस हेतु आज्ञा प्रदान की है। इस सम्बन्ध में वैदिक एवं बौद्ध परम्परा, गांधी विचारधारा, इस्लाम तथा ईसाई, जैनेतर धर्म शास्त्रों से कुछ अंश प्रमाण स्वरूप उद्धृत किए जा रहे हैं, जिन्हें बुद्धि-विवेक की कसौटी पर कसकर यह जाना जा सकता है कि जीव-हिंसा एवं मांस-भक्षण मानव के लिए कहां तक न्यायोचित है।

जीवन के निर्माण में अहिंसा की महती उपयोगिता विस्मृत करके आज उसे केवल "जीओ और जीने दो" की संकुचित सीमाओं में प्रतिबद्ध कर दिया गया है। इससे जनजीवन में अहिंसा विकृत ही नहीं हुई है, वरन् उसका स्वरूप ही जीवन और जगत से लुप्त-सा हो गया है। इसका फल यह हुआ कि आज व्यक्ति को अपने जीवन के लिए अहिंसा की कोई उपयोगिता नहीं रही। उसका उपयोग केवल दूसरे प्राणी का बचाने का अनधिकृत तथा विफल प्रयास तक ही सीमित रह गया है।

हिंसा का प्रतिकार करने के लिए अहिंसा का प्रादुर्भाव हुआ। जैन धर्म में हिंसा-अहिंसा का अत्यन्त विस्तृत एवं सूक्ष्म विवेचन हुआ है। "तत्वार्थ सूत्र" में उमास्वामी ने हिंसा की परिभाषा इस रूप में दी है :—

प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा।[1]

अर्थात् प्रमादवश जो प्राणघात होता है वही हिंसा है। किसी का प्राणव्यपरोपण ही हिंसा नहीं, मन की सावद्य प्रवृत्ति मात्र ही हिंसा है। इस प्रकार हिंसा में पहले मन का व्यापार होता है फिर वचन और काय का। प्रमाद-वशीभूत व्यक्ति के मन में प्रतिशोध की भावना जाग्रत होती है जो हिंसक उद्देश्य की जननी होती है और तब वह कष्टकारी वचन का प्रयोग करने लगता है तथा इससे भी आगे बढ़ने पर उस जीवन का प्राणघात करता है जिसके प्रति उसके मन में प्रमाद जाग्रत हुआ रहता है।

"दशवैकालिक चूर्णि" में कहा है कि मन-वचन और काय के दुरुपयोग से जो प्राणघात होता है वही हिंसा है।[2] इस तरह प्रमाद, वश किसी प्राणी का हनन करना अथवा उसे किसी भी प्रकार का कष्ट पहुंचाना हिंसा कही जाती है।

हिंसा का मूल कारण है, प्रमाद अथवा कषाय। इसी कारण हिंसा की उत्पत्ति होती है। इसी के अधीन होकर जीव के मन, वचन, काय में क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भाव प्रकट होते हैं। ये ही चार प्रकार के कषाय हैं, जिनके वश में होकर वह स्वयं शुद्धोपयोग रूप भाव-प्राणों का हनन करता है। इन्हीं कषायादिक की तीव्रता के फलस्वरूप उसके द्वारा द्रव्य-प्राणों का भी घात होता है।

'आचारांग सूत्र' में कहा गया है—सभी प्राणियों को, सभी भूतों को, सभी जीवों को तथा सभी सत्त्वों को न तो मारना चाहिए, न अन्य व्यक्ति के द्वारा मरवाना चाहिए, न पीड़ित करना चाहिए और न उनको घात करने की बुद्धि से स्पर्श ही करना चाहिए। यही धर्म

१. तत्त्वार्थ सूत्र ७, ६.
२. दशवैकालिकचूर्णि : जिनदास गणि, प्रथम अध्ययन ३४-४४.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

शुद्ध, शाश्वत और नियत है। इसमें प्रतिपादित शुद्ध धर्म को अहिंसा ही माना गया है। इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनकी हिंसा न जानकर करो, न अनजान में करो और न दूसरों से ही किसी की हिंसा कराओ, क्योंकि सबके भीतर एक-सी आत्मा है। जो व्यक्ति खुद हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और दूसरों की हिंसा का अनुमोदन करता है, वह अपने लिए बैर ही बढ़ाता है।[1]

वस्तुतः हिंसा के रागादिक भाव दूर हो जाने पर स्वभावतः, अहिंसा-भाव जाग्रत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, समस्त प्राणियों के प्रति संयम भाव ही अहिंसा है। 'अहिंसा' शब्द का प्रायः निषेधात्मक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। निषेध का अर्थ है—"किसी चीज को रोकना या न होने देना।" अतः निषेधात्मक अहिंसा का अर्थ किसी भी प्राणी के प्राणघात का न होना या किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न देना है।

जैन दर्शन में अहिंसा के दो पक्ष मिलते हैं। 'हिंसा न करना' यह अहिंसा का एक पक्ष है, उसका दूसरा पक्ष है—मैत्री, करुणा और सेवा। पहला पक्ष निवृत्ति-प्रधान है और दूसरा पक्ष प्रवृत्ति-प्रधान। प्रवृत्ति, निवृत्ति दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। अतः प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों में अहिंसा समाहित है।

जैन धर्म में हिंसा-अहिंसा सम्बन्धी विचारों को श्रावक-श्रमण-भेदानुसार दो वर्गों में विभाजित किया गया है। जैनाचार में इसके दो शब्द देशविरत (अणुव्रत) और सर्वविरत (महाव्रत) मिलते हैं। देशविरत से तात्पर्य उन लोगों से है जो अहिंसादि का पालन पूर्णरूपेण नहीं करते हैं, ऐसे लोग श्रावक कहलाते हैं। सर्वविरत का पालन श्रमण करते हैं जो हिंसा आदि समस्त स्थूल-सूक्ष्म दोषों का परित्याग कर देते हैं। अतएव श्रावक और श्रमण दोनों के ही आचारों में अहिंसा उचित स्थान रखती है। जैन संस्कृति में जीवन के प्रत्येक क्रिया-कलाप को अहिंसा की कसौटी पर कसा गया है। अहिंसा को ठीक प्रकार से न समझने के कारण ही जनमानस में अनेक भ्रांतियां प्रवेश कर गई हैं। कभी-कभी कुछ लोग कहते हैं—"अहिंसा व्यक्ति को कायर बना देती है, इससे आदमी का वीरत्व एवं रक्षा का साहस ही मारा जाता है।" किन्तु यह धारणा निर्मूल एवं गलत है। आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन सीमाविशेष में जुटाना जैन धर्म के विरुद्ध नहीं है।

अहिंसा का प्रथम सोपान तो निर्भयता है, यह कायरता से दूर है, यह वीरत्व का मार्ग है जिसके मूल में आत्मा के विराट् भाव की साधना निहित है।

अहिंसा पर विचार करते समय एक प्रश्न विशेष रूप से उठता है कि संसार में युद्ध जब आवश्यक हो जाता है तो उस समय अहिंसा का साधन किस प्रकार का रूप अपनाएगा ? युद्ध के न करने पर आत्मरक्षा और राष्ट्ररक्षा के हित के लिए इस प्रकार की हिंसा करना हिंसा नहीं है, प्रत्युत यह तो परम कर्त्तव्य है। चन्द्रगुप्त, चामुण्डराय, खारवेल आदि जैसे जैन अधिपति योद्धाओं ने शत्रुओं के दांत खट्टे किए हैं। इसलिए रक्षणात्मक हिंसा पाप का कारण नहीं है।[2] अतः अधिकारी के लिए प्राणी का वध हिंसा नहीं, अहिंसा ही है। कर्त्तव्य से च्युत होने पर अवश्य धर्म की हिंसा होगी। पापी का वध न करके उल्टा उसके हाथों मर जाना यह कौन-सा धर्म होगा ? यहां हमें गीता में वर्णित महायोद्धा अर्जुन का युद्ध-धर्म इस प्रकार के अहिंसा की याद दिलाता है। अर्जुन का मोह-भ्रम भगवान कृष्ण ने इसी तरह की अहिंसा का उपदेश देकर दूर किया था।

डॉक्टर यदि रोगी के किसी सड़े हुए अंग को जो उसके जीवन के लिए हानिकारक है काट डालता है अथवा मजिस्ट्रेट चोर को दण्ड तथा हत्यारे को फांसी की सजा देता है तो क्या इसे हिंसा करना कहेंगे ? कदापि नहीं, बल्कि यदि वे दोनों अपने कर्त्तव्य-पालन में कायरता दिखाते हैं तो अवश्य वे हिंसा के ही अपराधी होंगे क्योंकि उन्होंने अपने-अपने कर्त्तव्यपालन द्वारा उन लोगों का श्रेय नहीं किया, अपितु उनके अधःपतन में ही अपनी सहायता दी।

इस प्रकार किसी शरीर को कष्ट देना मात्र ही हिंसा का स्वरूप नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मात्र क्रिया अपने स्वरूप से पुण्य-पाप रूप नहीं हो सकती वरन् बुद्धि-भाव ही पुण्य-पाप रूप हो सकेगा।

जीवतत्व और अजीव तत्त्वों का संक्रमण, परिक्रमण और विक्रमण ही संसार है। वह पूर्ण भी इसी तरह है। इस विश्व की पूर्णता में ही विराट् रूप में अहिंसा का दर्शन होता है। सर्वप्राणियों का उदय ही सर्वोदय रूप पूर्ण अहिंसा है और सर्वोदय ही अहिंसा का विराट् रूप है।

---

१. उत्तराध्ययन ८, १०.

१. पंचाध्यायी ८१३.

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org